कला-भारतीय संस्कृति की परम्परागत मान्यताओं का दिग्दर्शन

✧ डॉ. नीरू कल्ला

कला : "कलं ददातीति कला" अर्थात सौन्दर्य की अभिव्यक्ति द्वारा सुख प्रदान करने वाली वस्तु का नाम कला है।

विचारों का आदान–प्रदान मनुष्य की आदिम प्रवृति रही है। इसी प्रवृति के फलस्वरूप भाषा का जन्म हुआ, परस्पर बोलकर ही मानव ने अपने विचारों का आदान–प्रदान किया परन्तु एक क्षेत्र अथवा देश की भाषा दूसरे देश की भाषा से जब भिन्न होती है तो परस्पर विचारों का आदान–प्रदान नहीं कर पाते हैं, ऐसी स्थिति में सार्वभौमिक आदान–प्रदान भाषा के होते हुए भी असम्भव है। इस भाषा की कमी को पूरा किया "कला" ने, मनुष्य ने अपने मन में उठने वाले विचारों को कला के माध्यम से जो साकार या मूर्त रूप प्रदान किया, वह देश काल की सभी सीमाओं का लांघकर सबके लिए समान रूप से बुद्धि ग्राह्य हो गया।

"मनुष्य की रचना, जो उसके जीवन में आनन्द प्रदान करती है, कला कहलाती है।"

"यथा कलां यथ शफ ऋणं सनामयमसि।
एव दुष्वप्नयं सर्वमाप्त्ये सं नयासस्त्र
नेहरनो व ऊ तयः ऊ व ऊ तयः।"[1]

शास्त्रों के अध्ययन से पता चलता है कि 'कला' शब्द का यर्थाथवादी प्रयोग **भरतमुनि** ने अपने **'नाट्यशास्त्र'** में प्रथम शताब्दी में किया "न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं" न साहिधा न सा कला।" अर्थात् ऐसा कोई ज्ञान नहीं, जिसमें कोई शिल्प नहीं, कोई विद्या नहीं, जो कला न हो।

कला संस्कृत भाषा से संबंधित शब्द है। इसकी व्युत्पति 'कल' धातु से मानी जाती है, जिसका अर्थ है– प्रेरित करना। कुछ विद्वान इसकी व्युत्पति 'क' धातु से मानते हैं– **"कं (सुखम्) लाति इति कलम्, कं आनन्दं लाति इति कला।"**[2]

संस्कृत साहित्य में इसका प्रयोग अनेकार्थों में हुआ है, जिसमें प्रभुत्व किसी वस्तु का सोलहवां भाग, 'समय का एक भाग', किसी भी कार्य के करने में अपेक्षित चातुर्य–कर्म आदि विशेषतः उल्लेखनीय है। भरतमुनि ने पूर्व 'कला' शब्द का प्रयोग काव्य को छोड़कर दूसरे प्रायः सभी प्रकार के चातुर्य–कर्म के लिए होता था और इस चातुर्य–कर्म के लिए विशिष्ट शब्द था–'शिल्प', जीवन से संबंधित कोई उपयोगी व्यापार ऐसा न था, जिसकी गणना शिल्प में न हो।

कला का शब्दिक अर्थ है–**किसी वस्तु का छोटा अंश।** कला धातु से ध्वनि व 'शब्द' का बोध होता है। ध्वनि से आशय है–**"अव्यक्त से व्यक्त की और उन्मुख होना।"** कलाकार भी अपने अव्यक्त भावों को विभिन्न माध्यमों से व्यक्त करता है, कला की व्युत्पति इस प्रकार भी कर सकते हैं–**क+ला, 'क'= कामदेव–सौन्दर्य, हर्ष व उल्लास; ला = देना।**[3]

कला के संबंध में **'पाश्चात्य दृष्टिकोण'** भी कुछ इसी प्रकार का है – अंग्रेजी भाषा में कला को **'आर्ट'** कहा गया है। फ्रेंच में 'आर्ट' और लेटिन में 'आर्टम' और आर्स से कला को व्यक्त किया गया है। इनके अर्थ ही है जो संस्कृत भाषा में मूल धातु 'अर'का अर्थ है – बनाना, पैदा करना या रचना करना। यह शारीरिक या मानसिक कौशल 'आर्ट' माना गया है।

अतः कला का अर्थ है –

"शिल्प कौशल की प्रक्रिया से युक्त सुन्दर व सुखद सृजन रूप।"

दूसरे शब्दों में, **"सत्यं, शिवम्, सुन्दरम की अभिव्यक्ति ही कला है।"**

कला मानव संस्कृति की उपज है। इसका उदय मानव सौन्दर्य भावना का परिचायक है। भारतीय संस्कृति का इतिहास देश और काल में अत्यधिक विस्तृत है। लगभग पाँच सहस्त्र वर्षों की लम्बी अवधि में इस संस्कृति ने विविध क्षेत्रों में अपना विकास किया है। किसी भी देश में संस्कृति उसकी अपनी आत्मा होती है, जो उसकी सम्पूर्ण मानसिक निधि को सूचित करती है। यह किसी एक व्यक्ति के सुकृत्यों का परिणाम मात्र नहीं होती है, अपितु अनगिनत ज्ञात एवं अज्ञात व्यक्तियों के निरन्तर चिन्तन एवं दर्शन का परिणाम होती है। किसी देश की काया, उसकी संस्कृति के आत्मिक बल पर ही जीवित रह पाती है। अतः संस्कृति सीखा हुआ व्यवहार है, प्रकृति से मनुष्य को मिला व्यवहार नहीं। देश और काल का सांस्कृतिक स्वरूप मानवीय प्रयत्नों के द्वारा नित्य ढलता रहता है।

इस प्रकार व्यापक दृष्टि से विचार करके देखा जाए तो धर्म, दर्शन, साहित्य साधना, राष्ट्र और समाज की व्यवस्था, वैयक्तिक जीवन के नियम और आस्था, कला, शिल्प, स्थापत्य, संगीत, नृत्य और सौन्दर्य रचना के अनेक विधान तथा उपकरण आदि ये सब मानव संस्कृति के अन्तर्गत आ जाते हैं। इनकी समष्टि का नाम ही संस्कृति है, जो मानव की सुरूचिपूर्ण कृति है, वह सब उसकी संस्कृति है।[4]

कला की परिभाषा–

क्षेमराज ने शिवसूत्र विमर्शिणी में कला को वस्तु का रूप सँवारने वाली कहा है – **"कलयति स्वरूपं आवेशयति वस्तुनि वां।" गोथे** के अनुसार **"महान सत्य की प्रतिकृति कला है।" हर्बर्ट रीड** के विचार में **"कला विचार अभिव्यक्ति का माध्यम है।"**[5]

कला के प्रकार–

(क) कला के कई प्रकार होते हैं और इन प्रकारों का परिगणन भिन्न–भिन्न रीतियों से होता है। मोटे तौर पर जिस वस्तु, रूप अथवा तत्व का निर्माण किया जाता है, उसी के नाम पर उस कला का प्रकार कहलाता है जैसे :

1. वास्तुकला या स्थापत्यकला,
2. मूर्तिकला,
3. चित्रकला,
4. मृदभाण्डकला (मिट्टी के बर्तन),
5. मुद्राकला (सिक्के या मोहरें)।

(ख) कभी–कभी जिस पदार्थ से कलाकृतियों का निर्माण किया जाता है उस पदार्थ के नाम पर उस कला का प्रकार जाना जाता है –

प्रस्तरकला – पत्थर से गढ़ी गई आकृतियाँ,

धातुकला – काँसे, तांबे अथवा पीतल से बनाई गई मूर्तियाँ,

दंत कला – हाथी दाँत से निर्मित कलाकृतियाँ,

मृत्तिका कला – मिट्टी से निर्मित कलाकृतियाँ।

कला की अवधारणाएँ :

टैगोर के अनुसार – **''मनुष्य कला के माध्यम से अपने गम्भीरतम् अन्तर की अभिव्यक्ति करता है''।**

पी. एन. चोयल के अनुसार : **''कला आदमी को अभियक्ति देती है।''**

प्लेटो के अनुसार : **''प्रत्येक व्यक्ति सुन्दर वस्तु को अपरा प्रेमास्पद चुनता है, अतः कला का प्राण सौन्दर्य है।''** उन्होंने कला को सत्य की अनुकृति माना है।

ललित कलाएँ :

प्राचीन भारत में 64 कलाओं की गणना मुख रूप से की गई थी। गुप्तकाल में इन सभी कलाओं से केवल कुछ ऐसी ही कलाओं की गणना पृथक रूप से की जाने लगी, जिनमें लालित्य था, इसलिए उन्हें **'ललित कला'** कहा गया। ललित कलाएँ रस और भाव–प्रधान होती है, जो मनुष्य में उदात्त भावनाओं का संचार करती है। ललित कलाओं उल्लेख भारतीय साहित्य में कहीं भी उपलब्ध नहीं है, अतः ललित कलाओं का उल्लेख का नामांकरण पाश्चात्य सम्पर्क की देन है। पाश्चात्य विद्वानों ने ललित कला के अन्तर्गत पाँच कलाएँ मानी है :

1. **स्थापत्य कला** : अर्थात् वास्तुकला, भवन निर्माण, मन्दिर, स्तूप, प्रसाद आदि।

2. **मूर्तिकला** : मिट्टी, पत्थर व धातु से निर्मित मूर्तियों में मानव से सामूहिक अनुभव और चिन्तन व्यक्त किया है।[6] कला के विभिन्न माध्यमों में मूर्तिकला निःसन्देह सर्वाधिक सशक्त और बहुआयामी रही है जिसमें धर्म जीवनकाल के सन्दर्भ में विविधता और विस्तार के साथ व्यक्त हुआ है। मूर्तिकला अपनी निर्माणविधा एवं विषय–वस्तु द्वारा कलात्मक अभिवयक्ति से समाज की धारणाओं का प्रतिबिम्ब प्रस्तुत करती है। अतः भारतीय कला में मूर्तिकला का महत्वपूर्ण स्थान है।

3. **चित्रकला** : मानव हृदय की प्राकृतिक सहज रसधारा से ही ललित कलाओं के अन्तर्गत एक विशेष कला ने अस्तित्व ग्रहण किया, जिसे चित्रकला कहा गया। ललित कला के वरीयता क्रम में संगीत के पश्चात् चित्रकला का ही स्थान प्राप्त हुआ है ललित कला के अर्न्तगत रस निष्पत्ति के गुणात्मक आधार पर चित्रकला में महीन तत्वों का सम्मिश्रण एवं संतुलन द्रष्टव्य है। चित्रकला जीवन का प्रतिबिम्ब है। वेद, वेदांग, काव्य, कोश आदि समस्त चित्रकला से प्रभावित है।[7]

4. **संगीत कला** : प्राचीन संस्कृत वाङ्मय में 'संगीत' का व्युप्तत्तिगत अर्थ 'सम्यक्गीतम्' रहा है। वराहेपनिषद् की निम्न पंक्ति से इसी अर्थ का बोध स्पष्ट होता है :

'संगीत वाललय वाद्य वंश गतापि मौलिस्थकुम्भ परिरक्षगधीर्नटीव।'[8]

व्युत्पति की दृष्टि से 'सम्यक्गीतम्' का बोधक होने पर प्रचार के अन्तर्गत 'संगीत' गीत, वाद्य तथा नृत्य के अभिन्न साहचर्य का ज्ञापक रहा है। **कालिदास** के **मेघदूत** में **'संगीतार्थ'** के उत्पादनों में गीत, वाद्य तथा नृत्य तीनों की अवाश्यकता निर्दिष्ट है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में गीत, वाद्यं तथा नृत्य का उल्लेख नाट्य की सहचरी कलाओं के रूप में हुआ है। विष्णुधर्मोतर पुराण में वाद्य तथा नृत्य को गीत का अनुवत्ती माना गया है तथा नृत्य कला के सम्यक् अध्ययन के लिए गीत तथा वाद्य का ज्ञान नितान्त आवश्क निर्दिष्ट है। समाज के प्राचीन लोकोत्सवों से लेकर अद्यतन लोकात्सवों तक गीत तथा वाद्य, नृत्य के साहचार्य की परम्परा बराबर उपलब्ध है। प्राचीन शिल्पों तथा भित्तिचित्रों में इन तीनों का साकार दर्शन उपलब्ध होता है।

ललित कलाओं में काव्य कला 'अर्थ प्रधान', संगीत कला 'ध्वनि प्रधान' और शेष अन्य कलाएँ रूप प्रधान हैं। **प्रो. के. डी. बाजपेयी** के अनुसार – **''भारत में ललित कलाओं को सौन्दर्य एवं आनन्द के अनुभव तथा शक्ति से संवर्धन का माध्यम माना गया था, न कि कुत्सित भावों एवं अंधविश्वासों का साधन।''**

अतः भारतीय संस्कृति की दिग्दर्शक कला के अन्तर्गत चित्रकला, स्थापत्यकला, संगीतकला, मूर्तिकला प्रमुख हैं और सभी कलाओं की कलात्मक अभिवयक्ति की दृष्टि से भारत के जनजीवन में न केवल प्रागैतिहासिक युग एवं मध्यकाल तक बल्कि वर्तमान में भी इनका विशेष महत्व है।

सन्दर्भ :

1. बी. एल. लूनिया; प्राचीन भारतीय संस्कृति, आगरा, 1974,
2. ऋग्वेद भाषा भाष्यम्, भाग 2, मण्डल 8 सूक्त 47, श्लोक 17
3. वुासदेव शरण अग्रवाल; भारतीय कला, वाराणसी, 1987,
4. वाचस्पति गैरोला, भारतीय चित्रकला, इलाहबाद, 1963,
5. रायकृष्ण दास; भारत की चित्रकला, वाराणसी, 1939,
6. असित कुमार हाल्दार; भारतीय चित्रकला; इलाहबाद, 1958,
7. परांजपे शरच्चन्द्र श्रीधर; भारतीय संगीत का इतिहास, वाराणसी, 1985,
8. लालमणि मिश्र; भारतीय संगीत वाद्य, नई दिल्ली, 1973